॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

अध्यात्म उपनिषद्

विषय सूची

॥अथ अध्यात्मोपनिषत् ॥ 3
शान्तिपाठ 24

॥ श्री हरि ॥

॥अथ अध्यात्मोपनिषत् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

यत्रान्तर्याम्यादिभेदस्तत्त्वतो न हि युज्यते ।
निर्भेदं परमाद्वैतं स्वमात्रमवशिष्यते ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ श्री हरि ॥

॥अध्यात्मोपनिषद ॥

॥ अध्यात्म उपनिषद्॥

हरिः ॐ ॥ अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यमस्य
पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन्यं पृथिवी न वेद ।
यस्यापःशरीरं यो अपोऽन्तरे संचरन्यमापो न विदुः ।
यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन्यं तेजो न वेद ।
यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन्यं वायुर्न वेद ।
यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन्यमाकाशो न वेद ।
यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन्यं मनो न वेद ।
यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन्यं बुद्धिर्न वेद ।
यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन्यमहंकारो न वेद ।
यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन्यं चित्तं न वेद ।
यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन्यमव्यक्तं न वेद ।
यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन्यम्क्षरं न वेद ।
यस्य मृयुः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन्यं मृत्युर्न वेद ।
स एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ।
अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि । अध्यासोऽयं निरस्तव्यो
विदुषा ब्रह्मनिष्ठया ॥ १॥

शरीर के अन्दर स्थित हृदय रूपी गुहा में एक (अद्वितीय), अज (कभी जन्म न लेने वाला), नित्य (शाश्वत) निवास करता है । पृथिवी इसका शरीर है, यह पृथिवी के अन्दर रहता है; किन्तु पृथिवी इस को नहीं जानती । जल जिसका शरीर है, जो जल में निवास करता है, पर जल

को उसका ज्ञान नहीं है । तेज जिसका शरीर है, जो तेज के अन्तर्गत संचरित होता है, पर तेज जिसे नहीं जानता । वायु जिसका शरीर है, जो वायु के अन्दर संचरित होता है, पर वायु जिसे नहीं जानता । आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश में संचरित होता है, पर आकाश जिसे नहीं जानता । मन जिसका शरीर है, जो मन में संचरित होता है, पर मन जिसे नहीं जानता । बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि में निवास करता है, पर बुद्धि जिसे जानती नहीं । जिसका शरीर अहंकार है, जो अहंकार में निवास करता है, पर अहंकार जिसे जानता नहीं । चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है, पर चित्त जिसे जानता नहीं । अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त में संचरित होता है, पर अव्यक्त जिसे जानती नहीं । अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर में संचरित होता है, पर अक्षर जिसे जानता नहीं । जिसका शरीर मृत्यु है, जो मृत्यु में संचरित होता है, पर मृत्यु जिसे जानती नहीं- वही सर्वभूतों में स्थित उनका अन्तरात्मा है, वह निष्पाप है और वही एक दिव्य देवनारायण है । शरीर और इन्द्रियादि अनात्म विषय हैं । इनके विषय में 'मैं और मेरा का भाव' अध्यास (भ्रान्ति) मात्र है, इसलिए विद्वान् को चाहिए कि वह ब्रह्मनिष्ठा (ब्रह्मज्ञान) के द्वारा इस अध्यास (भ्रान्ति) को दूर करे ॥१॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव तद्वृत्त्या स्वान्यत्रात्म्यमात्मनः ॥ २॥

अपने को ही बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी मानकर स्वयं को प्रत्यगात्मा समझे । वह मैं ही हूँ । इस 'सोऽहम्' वृत्ति से अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों से आत्म बुद्धि का परित्याग कर दे ॥२॥

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ ३॥

लोकानुवर्तन (संसार का अनुसरण) छोड़कर देहानुवर्तन भी त्याग देना चाहिए । देहानुवर्तन के पश्चात् शास्त्रानुवर्तन भी त्याग दे, इसके बाद आत्म-अध्यास (आत्म-भ्रान्ति) का भी परित्याग कर देना चाहिए ॥३॥

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः ।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ॥ ४॥

सदा अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहकर युक्ति, श्रुति (श्रवण) और स्वानुभूति द्वारा सबको अपना ही आत्म स्वरूप जानकर योगी पुरुष का मन विनष्ट होता है ॥४॥

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः ।
क्वचिन्नवसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥ ५॥

निद्रा, लोकवार्ता, शब्दादि विषयों तथा आत्म विस्मृति का कभी अवसर न आने देकर आत्मा में आत्मा का चिन्तन करना चाहिए ॥५॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मभूय कृती भव ॥ ६॥

माता और पिता के मल (मैल) से उत्पन्न हुए इस शरीर को, जिसमें मल और मांस भरा है, इसे चाण्डाल के समान दूर करके (काया के साथ स्व के बोध को त्यागकर) ब्रह्मरूप होकर कृतार्थ हो ॥६॥

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि ।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥ ७॥

हे मुने ! महाकाश में घटाकाश के समान परमात्मा में आत्मा को विलीन करके अखण्ड भाव से सदैव शान्त रहो ॥७॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना ।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् ॥ ८॥

स्वप्रकाशित, स्वयंभू और अधिष्ठान (ब्रह्म) रूप होकर ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का भी विष्ठा-पात्र के समान परित्याग कर देना चाहिए ॥८॥

चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम् ।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥ ९॥

शरीर के ऊपर आरूढ़ अहं-बुद्धि को सदानन्द और चित्त स्वरूप आत्मा में लगाकर लिङ्ग (स्वज्ञानचिह्न) को छोड़कर सर्वदा केवल आत्मरूप हो ॥९॥

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तःपुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ ॥ १०॥

हे निष्पाप ! जिस प्रकार दर्पण में (विशाल) पुर (नगर) दिखाई देता है, उसी प्रकार अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा जानकर कृतार्थ हो ॥१०॥

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः ॥ ११॥

अहंकार से मुक्त हुआ पुरुष आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है । वह चन्द्रमा के समान विमल होकर पूर्ण सदानन्द और स्वप्रकाश बनता है ॥११॥

क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः ।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥ १२॥

(सांसारिक) क्रियानाश से चिन्ता विनष्ट होती है और चिन्तानाश से वासना का क्षय होता है । वासना का विनष्ट हो जाना मोक्ष है और इसे ही जीवन्मुक्ति भी कहते हैं ॥१२॥

सर्वत्र सर्वतः सर्वब्रह्ममात्रावलोकनम् ।
सद्भावभावानादाढ्याद्वासनालयमश्नुते ॥ १३॥

जो सर्वत्र सब तरफ सभी को मात्र 'ब्रह्म' रूप में देखता है और जिसकी सद्भावना दृढ़ हो गई है, उसकी वासना का लय हो जाता है अर्थात् वासना विनष्ट हो जाती है ॥१३॥

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यज़् कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः ॥ १४॥

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करे, क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु है, ऐसा विद्या के ज्ञाता ब्रह्मवादी कहते हैं ॥१४॥

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति ।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ॥ १५॥

जिस प्रकार शैवाल को पानी के ऊपर से कुछ हटा देने के बाद वह क्षण मात्र भी वहाँ नहीं ठहरती (और पूर्ववत् पानी को ढक लेती है), उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति भी यदि ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी हट जाये या दूर हो जाये, तो माया उसे आवृत कर लेती है ॥१५॥

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः ।
समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ ॥ १६॥

जिसे जीवित स्थिति में ही कैवल्यावस्था प्राप्त हो गयी हो, वह विदेह (देहरहित) होने पर केवल (ब्रह्म) ही रहेगा । इसलिए हे निष्पाप ! समाधिनिष्ठ होकर निर्विकल्प बनो ॥१६॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा ।
समाधिना विकल्पेन यदाद्वैतात्मदर्शनम् ॥ १७॥

जिस समय निर्विकल्प समाधि से अद्वैत आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञान-रूपा ग्रन्थि का पूर्णरूपेण विनाश और विलय हो जाता है ॥१७॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत् ॥ १८॥

आत्मत्व अर्थात् आत्मभाव को दृढ़ करके, अहंकारादि का परित्याग करके उनसे उसी प्रकार से उदासीन रहे, जिस प्रकार बरतन-वस्त्रादि के प्रति उदासीन भाव रखा जाता है ॥१८॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥ १९॥

ब्रह्मा से स्तम्ब (तृण) पर्यन्त समस्त उपाधियाँ मिथ्या हैं, इसलिए सदा एक स्वरूप में अवस्थित रहने वाले अपने पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना चाहिए ॥१९॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन ॥ २०॥

स्वयं ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, स्वयं विश्व और स्वयं ही यह सब कुछ है । स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥२०॥

स्वात्मन्यारोपिता शेषाभासवस्तुनिरासतः ।
स्वयमेव परंब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥ २१॥

अपनी आत्मा में समस्त वस्तुओं का आभास (रस्सी में सर्प की तरह) केवल आरोपित है, उसका निराकरण कर देने से वह स्वतः पूर्ण, अद्वैत और अक्रिय परब्रह्म बन जाता है ॥२१॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ २२॥

एक ही आत्मा रूपी वस्तु में जो यह विकल्प प्रतीत होता है, वह प्रायः मिथ्या है; क्योंकि निर्विकार, निराकार और निर्विशेष में भेद ही कहाँ है? ॥२२॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये ।
कल्पार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि ॥ २३॥

वह चैतन्य (आत्मा) द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि भावों से शून्य है, जो निरामय (निर्दोष) तथा प्रलय-कालीन सागर की तरह परिपूर्ण है ॥२३॥

तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ २४॥

जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार अद्वितीय परम तत्त्व में भ्रान्ति का कारण भी विलुप्त हो जाता है । वह आत्मा अवयव रहित है, अस्तु, उसमें भेद कहाँ है? ॥२४॥

एकात्मके परे तत्त्वे भेदकर्ता कथं वसेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ॥ २५॥

एकात्मक परमतत्त्व में भेदकर्ता किस प्रकार रह सकता है? सुषुप्तावस्था में सुख मात्र है, उसमें भेद किसके द्वारा देखा गया है ॥२५॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेयि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥ २६॥

इस विकल्प (भेद) का मूल कारण चित्त है । यदि चित्त न हो, तो कोई भी विकल्प नहीं है । अत: प्रत्यग् रूप परमात्मा में अपने चित्त को समाधिस्थ (समाहित) कर दो ॥२६॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥ २७॥

अखण्डानन्द रूप आत्मा को अपना वास्तविक स्वरूप जानकर, सदा इसे आत्मा में ही बाहर और अन्दर आनन्द रस का आस्वादन, करो ॥२७॥

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥ २८॥

वैराग्य का फल बोध (ज्ञान) है, ज्ञान का फल उपरति (विषयों से विरत होना) है और उपरति का फल आत्मानन्द के अनुभव से प्राप्त शान्ति है ॥२८॥

यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वरूपं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥ २९॥

उपर्युक्त वस्तुओं में जो उत्तरोत्तर न हो, उससे पूर्व की वस्तु निष्फल है । विषयों से निवृत्ति ही परम तृप्ति है और आत्मा का आनन्द स्वयं ही अनुपम है ॥२९॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥ ३०॥

मायारूप उपाधि से युक्त, जगत् का कारणरूप सर्वज्ञत्व आदि लक्षणों से युक्त, परोक्ष रूप से शबल (अर्थात् मायावेष्टित) ब्रह्म जो सत्यादि स्वरूप वाला है, वही 'तत्' शब्द से विख्यात है ॥३०॥

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥ ३१॥

जो 'मैं' शब्द तथा प्रत्यय का आश्रय स्वरूप प्रतीत होता है, जिसका ज्ञान अन्त:करण से मिथ्या है, वह (जीव) 'त्वम्' शब्द से जाना जाता है ॥३१॥

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते ॥ ३२॥

ब्रह्म एवं जीव की क्रमश: माया और अविद्या- यह दो ऐसी उपाधियाँ हैं, जिनका परित्याग कर देने से अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म ही भासित होता है (दिखाई पड़ता है) ॥३२॥

इत्थं वाक्यैस्तथार्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या संभावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत् ॥ ३३॥

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा उनके (जीव और ब्रह्म के एकत्व का) अर्थ और अनुसंधान करना ' श्रवण' है और जो कुछ सुना गया है, उसके अर्थ पर युक्तिपूर्वक विचार-विमर्श करके अनुसंधान करना 'मनन' है ॥३३॥

ताभ्यं निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥ ३४॥

श्रवण और मनन द्वारा सन्देह रहित हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतानत्व प्राप्त करना-यह 'निदिध्यासन' है ॥३४॥

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥ ३५॥

इसके पश्चात् ध्याता और ध्यान का परित्याग करके ध्येय में ही चित्त को स्थापित करें । वायुरहित स्थान में रखे दीपक की तरह जब चित्त निश्चल बन जाए, यही समाधि है ॥३५॥

वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः ॥ ३६॥

समाधि की अवस्था में वृत्तियाँ केवल आत्मगोचर होती हैं, इसके कारण प्रतीत नहीं होतीं; किन्तु समाधि में से उठे हुए साधक की उन उन्नत वृत्तियों का स्मरण द्वारा अनुमान लगाया जाता है ॥३६॥

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥ ३७॥

इस अनादि जगत् में करोड़ों कर्म एकत्र हो जाते हैं, किन्तु समाधि के द्वारा उनका विलय हो जाता है और शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है ॥३७॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥ ३८॥

उत्तम कोटि के योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्ममेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ के समान ही धर्मामृत रूप सहस्रों धाराओं की वर्षा करती है ॥३८॥

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥ ३९॥

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकमवद्बोधपरोक्षं प्रसूयते ॥ ४०॥

इस समाधि के द्वारा वासना का जाल पूर्णरूपेण लय को प्राप्त हो जाता है एवं जब पुण्य-पाप नामवाला कर्मसमूह समूल रूप से विनष्ट हो जाता है, तब (तत्त्वमसि आदि) वाक्यों के माध्यम से पहले परोक्ष -ज्ञान प्रतिभासित होता है और बाद में (वह) हस्तामलकवत् अपरोक्ष बोध (तत्त्वज्ञान) को प्रकट करता है ॥३९-४०॥

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः ।
अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः ॥ ४१॥

भोगने योग्य पदार्थ की उपस्थिति में भी वासना उदित न हो, तब वैराग्य की स्थिति जान लेनी चाहिए और जब अहं-भाव के उदय का अभाव हो जाए अर्थात् जब वैसी (अहंकार होने योग्य) परिस्थिति बन जाने पर भी अहं न आये, तब ज्ञान की परम स्थिति जाननी चाहिए ॥४१॥

लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा ।
स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ॥ ४२॥

लीन वृत्तियाँ पुनः उदित न हों, तो वह उपरति की स्थिति समझनी चाहिए । इस स्थिति वाला यति 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है, जो सदा आनन्दानुभूति करता रहता है ॥४२॥

ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः ।
ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनि ॥ ४३॥

निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ।
सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥ ४४॥

जिसका आत्मतत्त्व एकमात्र ब्रह्म में ही विलीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय हो जाता है । ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के अनुसंधान में लीन हुई वृत्ति जब विकल्प रहित (ऊहापोह रहित) और मात्र चैतन्य रूप बन जाती है, तब उसे प्रज्ञा कहते हैं । वह (प्रज्ञा) जिसमें सर्वदा विद्यमान रहती है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है ॥४३-४४॥

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके ।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥ ४५॥

शरीर और इन्द्रियों में जिसका अहं-भाव न हो तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर भी जिसका ममत्व न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४५॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः ।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥ ४६॥

जो जीव और ब्रह्म में तथा ब्रह्म और सृष्टि में भेद बुद्धि नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४६॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥ ४७॥

सज्जनों द्वारा पूजे जाने पर और दुर्जनों द्वारा ताड़ित किये जाने पर भी जिसमें समभाव बना रहे, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४७॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः ।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥ ४८॥

जिसके द्वारा ब्रह्म तत्त्व जान लिया गया है, संसार के प्रति उसकी दृष्टि पूर्ववत् नहीं रहती । इसलिए यदि वह संसार को पूर्व के समान ही देखता है, तो यह जानना चाहिए कि वह अभी तक ब्रह्म भाव को समझा नहीं है और बहिर्मुख है ॥४८॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते ।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो नहि कुत्रचित् ॥ ४९॥

जब तक सुख आदि का अनुभव होता है, तब तक इसे प्रारब्ध भोग मानना चाहिए, क्योंकि कोई भी फल पूर्व में क्रिया करने के कारण ही उदित होता है । बिना क्रिया के कोई फल नहीं मिलता ॥४९॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम् ।
संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥ ५०॥

जिस प्रकार जाग्रत् हो जाने पर स्वप्न रूप कर्म विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाने पर करोड़ों कल्पों से अर्जित कर्म विलीन हो जाते हैं ॥५०॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा ।
न श्लिष्यते यतिः किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः ॥ ५१॥

योगी आकाश के सदृश अपने को असङ्ग और उदासीन जानकर भावी कर्मों में किञ्चित् भी लिप्त नहीं होता ॥५१॥

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।
तथात्मोपाधियोगेन तद्धर्मे नैव लिप्यते ॥ ५२॥

जिस प्रकार सुरा-कुम्भ में स्थित आकाश, सुरा की गन्ध से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीर रूपी उपाधि के साथ संयुक्त रहने पर भी आत्मा उसके गुण-धर्मों से प्रभावित नहीं होता ॥५२॥

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥ ५३॥

जिस प्रकार छोड़ा हुआ बाण निर्धारित लक्ष्य को बेधता ही है, उसी प्रकार ज्ञानोदय होने से पूर्व किये गये कर्म का फल अवश्य मिलता है अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हो जाने से पूर्व जो कृत्य किये गये थे, उनका फल ज्ञान उत्पन्न हो जाने से विनष्ट नहीं होता ॥५३॥

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति भिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥ ५४॥

बाघ समझकर छोड़ा गया बाण यह जान लेने पर कि 'यह बाघ नहीं गाय है', रुकता नहीं और वेगपूर्वक लक्ष्य वेध करता ही है, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर भी पूर्वकृत कर्म का फल मिलता ही है ॥५४॥

अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते ।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥ ५५॥

मैं अजर और अमर हूँ", इस प्रकार अपने आत्मरूप को जो स्वीकार कर लेता है, वह आत्मरूप में ही स्थित रहता है, फिर उसे प्रारब्ध कर्म की कल्पना ही कैसे हो सकती है ॥५५॥

प्रारब्धं सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥ ५६॥

प्रारब्ध कर्म उसी समय सिद्ध होता है, जब देह में आत्मभाव होता है; परन्तु देह में आत्मभाव रखना इष्ट नहीं है । अस्तु, देह के ऊपर आत्म बुद्धि का परित्याग करके प्रारब्ध कर्म का परित्याग करना चाहिए ॥५६॥

प्रारब्धकल्पनाप्यस्य देहस्य भ्रान्तिरेव हि ॥ ५७॥

अध्यस्तस्य कुतस्तत्त्वमसत्यस्य कुतो जनिः ।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ॥ ५८॥

देह के प्रति भ्रान्ति ही प्राणी के प्रारब्ध की परिकल्पना है और आरोपित अथवा भ्रान्त धारणा से जो कल्पित हो, वह सत्य कैसे हो सकता है? जो सत्य नहीं है, उसका जन्म कहाँ से हो और जिसका जन्म नहीं है, उसका विनाश कैसे हो? अस्तु, जो असत् है, उसका प्रारब्ध कर्म कैसे बने ? ॥५७-५८॥

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् ।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ॥ ५९॥

यदि अज्ञान (देहासक्ति आदि) का पूर्ण विलय ज्ञान में हो जाये, तो फिर देह का अस्तित्व ही कैसे रह सकता है, ऐसी शंका जड़ (स्थूल) बुद्धि वाले ही करते हैं ॥५९॥

न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ।
परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ॥ ६०॥

बहिर्मुखी दृष्टि वाले (अज्ञानियों) को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध की बात कहती है । ज्ञानियों के लिए या देहादि की सत्यता प्रकट करने के लिए प्रारब्ध का उल्लेख नहीं किया गया है ॥६०॥

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम् ।
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ॥ ६१॥

अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम् ।
निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ॥ ६२॥

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम् ।
सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनोदृशम् ॥ ६३॥

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
स सिद्धः सुसुखं तिष्ठ निर्विकल्पात्मनात्मनि ॥ ६४॥

वस्तुतः परिपूर्ण, आदि-अन्तरहित, अप्रमेय, विकाररहित, सद्घन, चिद्घन, नित्य, आनन्दघन, अव्यय, प्रत्यग्, एकरस, पूर्ण, अनन्त, सब ओर मुख वाला, त्याग और ग्रहण न करने वाला, किसी आधार के ऊपर न रहने वाला और किसी का आश्रय भी न लेने वाला, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म स्वरूप, निर्विकल्प, दोष-दुर्गुण रहित, अनिरूप्य (जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वरूप वाला), मन और वाणी द्वारा अगोचर, सत्समृद्ध, (सतोगुण की अधिकता वाला) स्वतः सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अनीदृश (जिसकी किसी के साथ तुलना न की जा सके)- वह एक ही अद्वैत रूप ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥६१-६४॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥ ६५॥

इस प्रकार अपनी अनुभूति से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखण्डित जानकर सिद्ध हो और निर्विकल्प आत्मा से अपने को सुख पूर्ण स्थिति में प्रतिष्ठित कर ॥६५॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णब्रह्ममहार्णवे ॥ ६६॥

(गुरु के इस उपदेश से शिष्य को ज्ञान हो गया और वह कहने लगा -) जिस जगत् को अभी मैंने देखा था, वह कहाँ चला गया ? किसके द्वारा वह हटा लिया गया? वह कहाँ लीन हो गया? बहुत आश्चर्य का विषय है कि अभी तो वह मुझे दिखाई पड़ रहा था, क्या वह अब नहीं है? ॥६६॥

न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः ॥ ६७॥

अखण्ड आनन्द रूप पीयूष से पूरित ब्रह्म रूप सागर में अब मेरे लिए क्या त्याग करने योग्य है? क्या ग्रहण करने योग्य है? अन्य कुछ है भी क्या? यह कैसी विलक्षणता है? ॥६७॥

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहं हरिः ।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः ॥ ६८॥

यहाँ मैं न कुछ देखता हूँ, न सुनता हूँ और न ही कुछ जानता हूँ; क्योंकि मैं सदा आनन्दरूप से अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित हूँ और स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूँ ॥६८॥

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमव्ययः ।
शुद्ध बोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ॥ ६९॥

मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी और अव्यय हूँ । मैं सङ्ग रहित हूँ,अङ्ग रहित हूँ, चिह्न रहित और स्वयं हरि हूँ । मैं प्रशान्त हूँ, अनन्त हूँ, परिपूर्ण और चिरन्तन अर्थात् प्राचीन से प्राचीन हूँ । मैं शुद्ध बोधस्वरूप और केवल सदाशिव हूँ ॥६९॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददौ । अपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ ।
ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ । घोराङ्गिरा रैक्काय ददौ । रैक्को रामाय ददौ ।
रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येतन्निर्वाणानुशासनं
वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत् ॥

यह विद्या (सदाशिव) गुरु ने अपान्तरतम नामक (देवपुत्र) ब्राह्मण को दी थी । अपान्तरतम ने ब्रह्मा को दी थी । ब्रह्मा ने घोर आङ्गिरस को दी । घोर आङ्गिरस ने रैक्क को दी । रैक्क ने राम (परशुराम) को दी । राम ने समस्त प्राणियों के लिए प्रदान की । यह निर्वाण (प्राप्त करने) का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है और वेद का आदेश है । इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई ॥७१॥

॥ हरि ॐ ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ इति अध्यात्मोपनिषत्॥

॥ अध्यात्म उपनिषद समात ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥